

ISSN-0975-6787

SHODH-SAMIKSHA

Journal of Research and Review

Vol.-IX

No.-2

Jul.-Dec., 2016



Published Bi-annually by

SOCIAL DEVELOPMENT RESEARCH COUNCIL

Muzaffarpur

for

M.P. SINHA SCIENCE COLLEGE, MUZAFFARPUR

नृत्य साधना : एक सम्पूर्ण आध्यात्मिक प्रक्रिया

डॉ. रंजना सरकार

पूर्व सिंडिकेट सदस्य, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर
सहायक प्राध्यापक, लक्ष्मी नारायण कॉलेज, भगवानपुर, मुजफ्फरपुर।

भारतीय शास्त्रीय नृत्य एक यौगिक प्रक्रिया है क्योंकि यह योग की तरह ही हमें समाधि में ले जाता है। मन को एकाग्र कर संयमित जीवन जीने के लिए मार्ग प्रशस्त करता है, जिससे लक्ष्य की ओर चित्त उन्मुक्त होता है और परम लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

नृत्य, नृत्यकार को आत्मसंयमित होना सिखाता है, जिससे आत्मसंयम द्वारा जीवन को एक सही दिशा मिलती है। मनुष्य के जीवन की ऊर्जा सीमित है। इसका उपयोग संयमपूर्ण ढंग से करने पर ही हमारा कल्याण है। नृत्य चूँकि संयम और नियम पर आधारित होते हैं इसलिए नृत्य के प्रथम चरण में आत्मसंयम को ही प्रमुखता दी गई है। आत्म संयम के द्वारा हमारे मन की विश्रृंखलताएं दूर होती हैं तथा हमारी चेतना केन्द्र में स्थापित हो जाती है। किसी भी शास्त्रीय नृत्य में बार-बार भ्रमरी का प्रयोग इसी कारण किया जाता है। भ्रमरी के द्वारा नृत्यकार के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की एक धुरी बन जाती है, जो स्नायु-संस्थान तथा मेरुदण्ड के सम्मिलित योग से निर्मित होती है। यह धुरी हमें बार-बार अपनी चेतना का केन्द्र में ले जाती है तथा उस केन्द्र से जो ऊर्जा का विकिरण होता है वह सम्पूर्ण व्यक्तित्व को मनुष्य के स्तर से उठाकर दिव्यता की ओर ले जाती है।

नृत्य के दूसरे चरण में नृत्यकार नियम पर आता है। नियम वह है जिसमें अनुशासन एवं नियमितता

है। नृत्यकार अपनी कुवृत्तियों को त्यागकर सद्वृत्तियों की ओर अग्रसर होता है। जबतक जीवन में अनुशासन नहीं आता तबतक हम वृत्तियों के गुलाम बने रहते हैं। नृत्य के नियम हमारी चेतना को सांसारिक गतिविधियाँ से पूर्णतः निरपेक्ष कर चेतना की शून्यता की अवस्था में ले आते हैं। नियम हमें पूर्ण पात्रत्व को गरिमा प्रदान करते हैं और हम नृत्य के नियमों, उपनियमों के माध्यम से अभिप्रेत भाव या दृश्य या पात्र को अपनी चेष्टाओं, भंगिमाओं, मुद्राओं के माध्यम से मंच पर जीवन्त कर डालने में सफल हो पाते हैं।

नृत्य के द्वारा नृत्यकार अपनी भावनाओं को जगाता है। उसके भीतर छिपी आध्यात्मिक शक्तियाँ ऊर्ध्वमुख होती हैं। जिस प्रकार एक योगी प्राणायाम के माध्यम से स्वयं को केन्द्रित करता है उसी प्रकार नृत्यकार भी नृत्य के माध्यम से अपने केन्द्र में स्थित हो जाता है।

‘योग’ का अर्थ होता है ‘जुड़ना’। प्रकृति के साथ मनुष्य का जुड़ाव योग के द्वारा संभव होता है। नृत्य के द्वारा व्यक्ति अपनी प्रवृत्तियों का अतिक्रमण कर भीतर की तरफ लौट सकता है। नृत्यकार अपनी साधना द्वारा अपने अंतर में छिपी लय का पता लगाता है। यह अंतरलय प्रकृति की लय के साथ जुड़ने के लिए सदैव बेचैन बनी रहती है। इसी लय के सहारे नृत्यकार के भीतर अन्तःशक्ति जागृत होती है और

नृत्यकार परम आनंद की स्वयं में अनुभूति करता ही है, दूसरों को भी उसका रसास्वादन कराता है। यहीं पर नृत्यकार के साथ प्रेक्षक एकाकार हो जाते हैं।

नृत्य-साधना में भी उसकी चरम समाधि होती है। यह वैसी समाधि है जो अचलता या निरपेक्षता नहीं देती बल्कि गतिरता से प्रारंभ होकर चरम गतिरता तक ले जाती है।

(योगी की साधना की पूर्णाहुति तब होती है जब वह संपूर्ण होता है तथा ब्रह्म में लीन हो जाता है। भारतीय दर्शन में जिस प्रकार 'अहम् ब्रह्मास्मि' (मैं ही ब्रह्म हूँ) की बात की जाती है, नृत्य भी उसी प्रकार 'मैं हूँ' के अहंकार को मिटाकर नृत्यकार को परम शक्ति का अनुभव कराता है।)

आचार्य चरक ने शरीर, मन और आत्मा के प्रगाढ़ संबंध को त्रिदण्ड कहा है। यही त्रिदण्ड जीवन का आधार-स्तम्भ है। नृत्य के माध्यम से भी इसी त्रिदण्ड को सुदृढ़ता प्रदान की जाती है।

यों तो कोई भी कला-विधा अनुभूति से अभिव्यक्ति तक की यात्रा में ही सम्पूर्ण होती है नगर नृत्यकार का ऐन्द्रिय संवेदन अनुभूति की प्रभावान्विति और इन्द्रियों की कुशलता का मुखापेक्षी होता है। मानव को पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ प्राप्त हैं, और उनमें पाँच मात्राओं का ज्ञान हमें होता है लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि इन इन्द्रियों और विशिष्ट गुणों की सत्ता परंपरानुमोदित अभिज्ञान पर आश्रित होती है। इनमें से किसी एक के सक्रिय सहयोग के अभाव में दूसरी पंगु ही नहीं अपितु अंशतः अपने कार्य को संपादित करने में असमर्थ हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि अनुभूति ऐन्द्रिय अवबोध जनित अभिज्ञान की मुखापेक्षी भी होती है। इसके अतिरिक्त अनुभूति का एक निर्माणक तत्व है जो दृश्य संस्कृति से परे होता है। यही से किसी भी ललित कला का आध्यात्मिक स्वरूप उभरता है। नृत्य-कला भी अनुभूति के इसी पक्ष के कारण आध्यात्मिक हो जाती है। यही वह तत्व है जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त अनुभूति के अन्य स्वरूप भी देखने को मिलते हैं, जिन्हें कार्य-कारण से प्रत्यक्ष रूप से संबंध कर पाना

कठिन है। यही विशिष्ट अनुभूति किसी भी कला को आध्यात्मिक स्वरूप देती है। इस स्थिति में नृत्यकार जीवन के क्षीण निर्देशों पर दत्तचित्त होकर विचार करता है और इसके अनंत अदृश्य स्पंदनों को अपनी अनुभूति में लेकर उसे अभिव्यक्ति में मूर्तिमान करने के लिए लालायित हो उठता है। यहाँ उसकी प्रतिभा दृश्य से अदृश्य और शांत से अनंत की ओर क्रियाशील देखी जा सकती है।

नृत्यकार इस स्थिति में वस्तुओं के बाह्य और आभ्यन्तर स्वरूप में सामंजस्य देखता है और उसका तत्संबंधी बोध न केवल कलात्मक साँचे में ढलता जाता है अपितु इसकी अर्थवत्ता प्रमाणित होने लगती है। इसी धरातल पर नृत्यानुभूति दृश्य और अदृश्य के महामिलन की परिचायक बन जाती है। नृत्यकार का स्वप्न उसके विश्वास में ढलकर अभिव्यक्त होता है और स्वप्न से विश्वास तक का यह प्रत्यावर्तन नृत्यानुभूति का प्रमुख दिशा-निर्देशक बन जाता है। अनुभूति के संदर्भ में वस्तुगत उद्दीपनों का उल्लेख करने वाला लोग प्रायः यह भूल जाते हैं कि नृत्यकार यथासमय उसका उपयोग करता है और इसके अन्तराल में प्रवेश करके उस महान सत्य तक पहुँचने का प्रयास भी करता है।

हमें यह विदित है कि अनुभूति स्थापित होने पर ही कला-रूप में परिणत होती है पर अनुभूति से लेकर कला में उसके निरूपण तक का यह विकास-क्रम अनुपम आन्तरिक संश्लेषण और अभिव्यक्ति-कौशल का मुखापेक्षी होता है। नृत्यकार के द्वारा अनुभूत और आंगिक चेष्टाओं और मुद्राओं द्वारा परीक्षित अनुभव की अभिव्यक्तिपूर्ण परिव्यापित ही कला को प्राणवान बनाती है। नृत्यकार का यह दिव्य स्वरूप ही उसकी धरोहर होती है।

नृत्यानुभूति के बारे में उसकी पूर्णता और अखण्डता का प्रश्न उठाया जा सकता है और इसपर विचारकों के मतभेद भी हो सकते हैं लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि अखण्ड, जो समझने का माध्यम हैं, वह सदैव खण्ड ही होता है।

डी०जी० मूर ने कहा है कि— "खण्ड के

अन्दर अखण्ड की विशेषताएँ पिद्यमान रहती हैं। अखण्ड कलानुभूति त्रिकोणात्मक होती हैं, जिकसे एक शीर्ष पर सुन्दरता का उपादान रहता है दूसरे पर सौन्दर्य चेतना का, तीसरे पर इसके उपयुक्त कलात्मक मनोभाव पाया जाता है।²

अनुभूति के लिए वस्तुगत जगत के साथ ही मनोमय जगत की उपस्थिति भी अपेक्षित है। किन्तु कलाकार इन्हीं दोनों तक सीमित नहीं रहता। एक विचारक ने लिखा भी है कि जिस अनुपात में हम बाह्य आवरण का त्याग करके मानस की गहराई में उतरते जाते हैं और यथार्थ-बोध प्राप्त करते जाते हैं उसी अनुपात में चेतना के स्वरूप आपस में मिलते दृष्टिगत होते हैं।

किसी भी प्रदर्श्य कला में कलाकार की चेतना की केन्द्रीयता ही उस कला के स्वाभाविक

और मर्मस्पर्शी सृजन या प्रदर्शन में सहयोगिनी होती है। इस संबंध में नृत्यकार की चेतना और उसका मानसिक धरातल अन्य ललित कलाओं की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण इस कारण से भी है कि वह अपनी आंगिक चेष्टाओं और मुद्राओं के द्वारा अपनी समस्त इन्द्रियों को अभिप्रेत भाव के संबंध में केन्द्रित करता है। तभी वह प्रदर्श्य भाव की चरम स्थिति तक स्वयं को ला पाता है और दर्शकों को उक्त भाव की अनुभूति करा पाता है। नृत्यकार की यह स्थिति योग की क्रियाओं से जहाँ बहुत भिन्न नहीं है वहीं भक्ति में डूबे किसी भवन-मन की समर्पित एकाग्रता से भी सीधे तुलनीय है। यही कारण है कि नृत्य को कलामर्मज्ञों ने एक पूर्ण आध्यात्मिक प्रक्रिया माना है।

मो.-9570703616